आश्रम व्यवस्था और उसका आधार

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

भारतीय संस्कृति अध्यात्मवादी संस्कृति है। इसमें मानव के जीवन के आयुष्य का निर्धारण काल सौ वर्ष का माना गया है। उपनिषदों में कहा गया है कि जीवेम शरदः शतम् अर्थात हम सौ वर्ष तक जीये। सौ वर्ष का काल मानव के जीवन का एक लम्बा काल है। इस सौ वर्षों को चार भागों में विभिक्त किया गया है– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्यक आश्रम के लिए 25–25 वर्ष की आयु निर्धारित की गयी है।

जीवन के प्रारम्भिक 25 वर्षों में छात्र, गुरु के समीप जाकर विद्याध्ययनपूर्वक इस आश्रम में रहता था। ब्रह्मचय का अर्थ है– संयमी जीवन व्यतीत करना। अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना संयम है। ब्रह्मचर्य नींव के समान है। संयम की जितनी अधिक मात्रा बाल्यकाल में होगी उतनी ही पौष्टिकता भावी जीवन में प्राप्त होगी। कन्या का भविष्य निर्माता पति है। संयम की आवश्यकता कन्या और वर दोनों के लिये है। कन्या ब्रह्मचर्य के पालन से ही सुयोग्य युवा पति को प्राप्त करती है। बैल और घोड़े संयम के कारण ही कठोर परिश्रम करते है, घास खाने की इच्छा करते हैं। सामाजिक दृष्टि से गृहस्थ आश्रम सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जिस प्रकार सभी जीव वायु के सहारे जीवित रहते हैं, उसी प्रकार शेष तीनों आश्रमी गृहस्थ आश्रम पर ही निर्भर रहते हैं। गृहस्थ ज्ञान और अन्न के द्वारा रक्षा करता है। इस कारण गृहस्थाश्रमी ही सर्व श्रेष्ठ है। विवाह संस्कार के साथ गृहस्थ आश्रम प्रारम्भ होता है। वर प्रतिज्ञा करता है कि वह कन्या के सौभाग्य के लिये उसका हाथ पकड़ता है जिससे वह मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक रहे। ऐश्वर्यशाली, उदार, संसार के उत्पादक और धारकपरमात्मा ने तथा सभी देवों ने गृहस्वामित्व के लिये तुमको मुझे दिया है। गृहस्थ जीवन में प्रत्येक दम्पती की यही कामना होती है कि उसका जीवन सुखमय और निष्कंटक हो। जीवन जितना संयमी, नियमित और कर्मनिष्ठ होगा, उतना ही गृहस्थ जीवन सुखमय होगा।

वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रवृत्ति होती थी। मनुस्मृति में कहा गया है कि 'जब गृहस्थाश्रमी पके हुए बाल तथा अपने पुत्र के पुत्र को देख ले तब वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। सर्वदा वेदाभ्यास में लगा रहे, ठंडा–गर्म, सुख–दुःख, मान–अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करे, सबसे मैत्री भाव रखे, दानशील बने, दान न ले और सब जीवों पर दया करे। वानप्रस्थ और संन्यास दोनों आश्रमों में ब्रह्मचर्य का पूर्ण–पालन करना होता है। दोनों आश्रमों में अन्तर यही है कि वानप्रस्थ आश्रम में पुरुष स्त्री के साथ भी रह सकता है, पर संन्यासाश्रम में नहीं। वानप्रस्थ में अग्नि प्रज्वलित रखनी पड़ती है, पर संन्यासी अग्नि आदि का त्याग कर देता है। संन्यासी को इन्द्रियों पर संयम रखना और परमतत्त्व का ध्यान करना होता है।

संन्यास की इच्छा तभी करनी चाहिए जब सभी पदार्थों के प्रति मन में पूर्ण विरक्ति हो जाये। इसके विपरीत आचरण मनुष्य को पतित करने वाला है। वैराग्य होने पर ही संन्यास ग्रहण करना चाहिए और मन में किंचित् राग भी रहे तो घर को न त्यागे। जो द्विज मन में राग रहते हुए भी संन्यास ले लेता है, वह अधम नरक को प्राप्त करता है। जगत को निःसार समझकर सार वस्तु को पाने की कामना से ज्ञानी पुरुष पूर्ण विरक्त होकर संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। उपनिषदों में कर्म को प्रवृत्ति का और ज्ञान को संन्यास का प्रमुख लक्षण कहा गया है। जिसमें शक्ति, शम, दम, शौच सन्तोष, सत्य, सरलता, दम्भहीनता और अपरिग्रही वृत्ति हो वही संन्यास का अधिकारी है। मन वाणी और कर्म के द्वारा किसी के प्रति ईर्ष्या भाव न रखना संन्यासी का कर्त्तव्य है। इस प्रकार के कर्मों को करते हुए एकाग्र मन से उपनिषदों को सुने और ब्रह्मचर्य पालन करता हुआ तथा स्वाध्याय करता हुआ ऋषि ऋण से मुक्त हो। यज्ञानुष्ठान द्वारा देव ऋण को चुकाये और पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण से मुक्त होकर संन्यास ले। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, ह्री, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्माचरण के दस लक्षण हैं। जो पुरुष भूतकालीन भोगों का चिन्तन, वर्तमान काल में प्राप्त भोगों का स्वागत तथा भविष्य में प्राप्त होने वाले भोगों की कामना नहीं करना वही संन्यास आश्रम में रह सकता है।

उपनिषदों में संन्यास धर्म और आचार का वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषदों में वर्णित आचार व्यवस्था का हार्द यह है कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् जो कार्य अपने

प्रतिकूल हो उसे दूसरों के साथ भी न करें। यही समता दर्शन है। समता का दर्शन आत्मदर्शन है। उपनिषदों में पदे–पदे आत्मदर्शन का उपदेश दिया गया है। आत्मदर्शन उसी को होता है जिसको सांसारिक विषयों से पूर्ण वितृष्णा हो जाय और काञ्चन तथा लोष्ठ में समान बुद्धि हो जाय, अहन्ता ममता का सार्वत्रिक अभाव हो जाय, वही व्यक्ति आत्मतत्त्व साक्षात्कार कर सकता है। यह स्थिति किसी पूण्यवान व्यक्ति को ही उपलब्ध होती है। ऐसे व्यक्ति के लिए ही कहा गया है– 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् अर्थात् जिस दिन पूर्ण विरक्ति हो जाय उसी दिन संन्यस्त हो जाये। परित्यज्य सर्वं व्रजति इति परिव्राट्' इस परिव्राट् पद का वह अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार परिव्राट् की निष्पत्ति में आचार की साधकता स्पष्टरूपेण परिलक्षित होती है।